International Journal of Applied Research 2021; 7(3): 475-481

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2021; 7(3): 475-481
www.allresearchjournal.com
Received: 12-01-2021
Accepted: 18-02-2021

डॉ. नवाब सिंह
हिन्दी विभाग, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
डॉ. नवाब सिंह
हिन्दी विभाग, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सिनेमा का विकास: युग–यथार्थ के संदर्भ में

डॉ. नवाब सिंह

सारांश
हिन्दी में 'सिनेमा' शब्द के अनेक रूप मिलते हैं, जैसे– फिल्म, टॉकिज, थियेटर, बायस्कोप, पिक्चर, मूवी, आदि। सिनेमा कला और विज्ञान का ऐसा सबसे बेहतरीन अनूठा मिश्रण है जिसने एक अद्भुत कलारूप को स्थापित किया है। ऐसी प्रभावशाली सशक्त कला 19वीं शताब्दी से पूर्व विकसित नहीं हो सकती थी। सिनेमा का आविष्कार निरा संयोग नहीं है। इसके पीछे पुनर्जागरण, पूंजीवाद, राष्ट्रवाद, जनवाद और समाजवाद की एक लम्बी क्रांतिकारी विरासत है। फिल्मकोश में 'सिनेमा' शब्द को सामूहिक क्रियाओं की समग्रता में देखा जाता है। 'क्रिश्चियन मैटज' के अनुसार ''फिल्म–निर्माण, फिल्म वितरण, फिल्म प्रदर्शन और फिल्म देखने की समग्र प्रक्रिया को सिनेमा नाम से अभिहित किया गया है। दर्शक के सामने पूरी फिल्म आती है उसे ही वह समग्रता में अनुभव करता है और फिल्म की पूरी प्रक्रिया से अनभिज्ञ रहता है।''[1] सिनेमा (कला–विज्ञान मिश्रित) संचार माध्यम की ऐसी विशिष्ट और सर्वोत्तम कला है जिसमें कला माध्यमों के अनेक रूपों का सन्निवेश होता है जैसे – लेखन, अभिनय, नाटय, संगीत, नृत्य, शिल्प, निर्देशन, फोटोग्राफी आदि के साथ साथ तकनीकी ज्ञान विज्ञान का भी समावेश इस सिनेमा कला में होता है। अर्थात् सिनेमा के अन्तर्गत लेखन कथा, दृश्य, अभिकल्पना, मंच, निर्देशन, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, रूप सज्जा का जितना महत्व है उतना ही प्रकाश विज्ञान, इलेक्ट्रोनिक्स, भौतिकी, रसायन विज्ञान आदि टेक्नोलॉजी का भी विशेष योगदान है। सिनेमा कला और विज्ञान, कल्पना और यंत्र, व्यक्ति और समष्टि के संयोग–समायोजन से विकसित ऐसी विशिष्ट कला है जिसमें समाज की कला–यात्रा का हर आयाम समन्वित हो गया है। कला का ऐसा कौन सा रूप है जो सिनेमा में शामिल नहीं है।

कूटशब्द : संचार माध्यम, आधुनिक कला, सिनेमा, दृश्य–श्रव्य माध्यम, सामूहिक निर्मिति, संस्कृति उद्योग, सांस्कृतिक उत्पादन, बौद्धिक संवर्द्धन, साम्राज्यवाद, व्यावसायिकता, कलात्मक उत्पादन, पूंजीवाद, वर्चस्व, समाजवाद

प्रस्तावना

अध्ययन के मुख्य लक्ष्य, क्षेत्र और पद्धति

सिनेमा पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। सिनेमा एक ऐसी सांस्कृतिक कला सर्जना है जिस पर पूंजीवादी व्यवस्था का नियंत्रण है। पूंजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप आधुनिक समाज का निर्माण और विकास करना सिनेमा का उद्देश्य है। सिनेमा बौद्धिक परिष्कार के माध्यम से पूंजीवादी संस्कृति को दुनिया के विभिन्न भागों में पहुंचाकर सर्वग्रासी बनाती है। कुलीनतावादी संस्कृति को जीवन की समग्र पद्धति बनाने में सिनेमा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। जो आज सामाजिक जीवन के विभिन्न क्रिया–कलापों में व्यक्त हो रही है। इस पूंजीवादी वर्चस्ववादी संस्कृति से प्रभावित समाज का नया स्वरूप बन रहा है। अगर हम सिनेमा को पूंजीवादी संस्कृति के चित्त–भूमि की खेती कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। आज सिनेमा पूंजीपतियों का सबसे प्रमुख और सफल संस्कृति–उद्योग हो गया है। पूंजीवादी व्यवस्था में सिनेमा का विकास अपने युग संदर्भ से कैसे प्रभावित होता है और कैसे युग चेतना को प्रभावित करता है इसका ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पद्धति से विकासपरक अध्ययन करना ही हमारा लक्ष्य और पश्चिम में इसके तकनीकी विकास से लेकर भारत में 1947 तक के समय में सिनेमा निर्माण के स्वरूपों में आए परिवर्तनों का अध्ययन करना हमारी समय सीमा है।

सिनेमा तकनीकी का विकास और युगसंदर्भ

सिनेमा दृश्य–श्रव्य अभिव्यक्ति का सर्वाधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली माध्यम है। आँखों देखी किसी वस्तु, घटना या दृश्य का जितना गहरा और दीर्घकालीन प्रभाव मनुष्य पर होता है उतना हजार पन्नों के लिखे ग्रंथ का नहीं होता है। इसी प्रकार जितना अधिक महत्त्व एक दृश्य अथवा चित्र का है उतना लिखे हुए हजार शब्दों का नहीं, और इसी तरह जितना ज्यादा महत्त्व सिनेमा का है उतना हजार दृश्यों अथवा चित्रों का नहीं।

जनमानस पर सिनेमा के प्रभाव को देखते हुए कमला प्रसाद कहते हैं, ''जनमानस को इस कला ने जितने गहरे स्पर्श किया है उतना और किसी माध्यम ने नहीं। कला परंपरा में यह दृश्यकाव्य का विकसित रूप तो है ही, साथ में विज्ञान की मदद से इसने चतुर्दिक विस्तार किया है। इस कला रूप में चित्र, संगीत, नृत्य, रंगकर्म, काव्य इत्यादि का कला संगम है। देश–काल को लांघने की शक्ति है। स्मृति से खेलने की आदत है। प्रसिद्ध फिल्मकार सत्यजित रे ने कहा, 'फिल्म छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गति है, फिल्म नाटक है, फिल्म कहानी है, फिल्म संगीत है, फिल्म में मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन बातों का एक साक्ष्य दिखा सकता है''[2] कला की अन्य विधाएं जहां किसी एक अकेले व्यक्ति की निर्मिति या सृजनात्मकता होती है वहां सिनेमा की निर्मिति में अनेक व्यक्तियों की सामूहिक सृजनात्मकता का योगदान होता है। मतलब यह की सिनेमा किसी एक व्यक्ति की निर्मिति नहीं है बल्कि वह एक सामूहिक सहयोग से निर्मित कला है। सिनेमा एक ऐसी आधुनिक कला है जो उद्योग भी है जिसमें उत्पादन सामूहिक रूप में ही हो सकता है।

19 वीं सदी ज्ञानोदय की सदी है। ज्ञानोदय की इस सदी में मानव ने अनेक क्षेत्रों में विकास के नये क्षितिजों के आविष्कार की शुरूआत की। सिनेमा मनुष्य की उसी विकास की नयी संभावनाओं के विस्तार का आविष्कार है। या कहें कि सिनेमा मानव इतिहास के उस दौर में जन्मा जब मानव की अनन्त संभावनाओं का –सृजन और संहार – दोनों का पूर्वाभास होने लगा था। सिनेमा के जन्म अथवा आविष्कार के मूल में फोटोग्राफी है। 19 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में यानी सन् 1826 ई. में फोटोग्राफी के जन्म ने ही सिनेमा के उदय की नयी संभावनाओं को अपने भीतर गहरे छिपा रखा था। कह सकते हैं कि फोटोग्राफी के आविष्कार ने ही सिनेमा के आविष्कार की नयी जमीन की तलाश को आरम्भ किया है। वाल्टर बैंजामिन भी मानते हैं कि सिनेमा की शुरूआत का श्रेय फोटोग्राफी को है। 'यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाकृति' नामक प्रसिद्ध लेख में वाल्टर बैंजामिन लिखते हैं कि ''उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में ही छपाई वाली लेथमशीन आ गई थी। लेथमशीन ने चित्र–कलाओं के लिए रोज–ब–रोज की जिन्दगी को चित्रित करने की सम्भावना पैदा की और इस तरह चित्र–कलाएं छपाई के बराबर आ गयीं। कुछ समय बाद लिथोग्राफी का स्थान फोटोग्राफी ने ले लिया। चित्र कलाओं के पुनरुत्पादन के क्षेत्र में पहली बार हाथ का स्थान आँख ने ले लिया– ताल पर टिकी हुई आंख ने। अब चूंकि हाथ जितनी तेजी से रेखा खींच सकता है उससे ज्यादा तेजी से आंख देख सकती है, इसलिए चित्र–अनुकृति की रफ्तार देखते–ही–देखते इतनी बढ़ गयी कि बोली की बराबरी करने लगी। स्टूडियों में शूटिंग करते हुए कैमरा–मैन दृश्यों को उतनी ही तेजी से कैमरे में भरता जाता है जितनी तेजी से अभिनेता संवाद बोलता है। जिसे तरह लिथोग्राफी के आगमन का मतलब था चित्रित समाचार–पत्र, उसी तरह फोटोग्राफी का मतलब था बोलता सिनेमा।''[3] सन् 1824 में लंदन में रॉयल सोसायटी ऑफ आर्ट्स के एक अधिवेशन में पीटर मार्क रोजेट ने अपना शोधपत्र ''गतिमान वस्तुओं पर दृष्टि का प्रभाव'' (Persistence of Vision Theory) प्रस्तुत किया। उनके विचार के अनुसार आंखें किसी भी गतिशील वस्तु की झलक एक सैकेंड के बहुत ही थोड़े से भाग की अल्पावधि के लिए रोकने में समर्थ है। यदि किसी दृश्य–वस्तु के दृष्टिपथ से हटाने की अल्पावधि से पूर्व ही दूसरी दृश्य–वस्तु सामने आ जाए तो दोनों वस्तुएं जुड़ी हुई प्रतीत होंगी। आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल फैरेडे ने इसके परीक्षण में सफलता प्राप्त की।

फोटोग्राफी की प्रक्रिया के मुख्य आविष्कारकर्ता फ्रांसीसी लुइस डेन्यूरे हैं। ''सन् 1833–35 में लुइस डेन्यूरे ने एक 'जैट्राफ' नामक चरखी जैसे यंत्र को विकसित किया जिसमें बहुत से चित्र क्रमशः चिपका दिये जाते थे। जब इस चरखी को घुमाया जाता था तो इस चरखी के साथ चिपके चित्र भी साथ–साथ घूमने लगते थे और देखने वाले को चित्रों के गतिशील होने का भ्रम होने लगता था। तदुपरांत 1839 में लुइस डेन्यूरे ने ऐसी पद्धति विकसित की जिसके अंतर्गत रसायन लेपित प्लेट पर छायाचित्रों को एक्सपोज किया जा सकता था।''[4] आगे इस क्षेत्र में अनेक सुधार करते हुए वे इसे विकसित करते चले गये। इस तरह लुइस ने फोटोग्राफी की तकनीकी को विकसित कर सिनेमा के क्षेत्र में नई क्रांति कर दी थी। सिनेमेटोग्राफी की तकनीकी को आगे बढ़ाते हुए 'सन् 1879 ई. के आसपास अमेरिकी फोटोग्राफर माइब्रिज ने मूवी कैमरे का आविष्कार करने की दिशा में एक बड़ा प्रयोग किया। उसने एक पंक्ति में 25 कैमरों के शटर धागे से इस तरह बांधे थे कि जब घोड़ा भागे तो एक–एक करके सभी कैमरों के धागे टूटते गये और उनके शटर क्रमशः खुलकर बंद होते गये। इस तरह घोड़े के अलग–अलग 25 फोटो खींच गये। और जब इन सभी चित्रों को एक साथ रखकर देखा गया तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो दौड़ता हुआ घोड़ा हो। इस प्रकार सिनेमा के क्षेत्र में मूवी कैमरे की तकनीकी का विकास हुआ।'[5]

सिनेमा निर्माण की तकनीकी क्षेत्र के विकास की दिशा में 'सन् 1883 ई. के आसपास अमेरिका के थॉमस अल्वा एडीसन ने 'किनेटेस्कोप' नामक यंत्र का आविष्कार किया। जिसमें 50 फीट लम्बी चलती फिरती तस्वीरें मैग्नीफाइंग लेंस की मदद से देखी जा सकती थी। तदुपरांत सन् 1889 में कोडक कम्पनी के जार्ज ईस्टमैन ने 'सेल्युलाइड फिल्म' का आविष्कार किया। इसके बाद 1890 से विश्व के अमेरिका, फ्रांस और इंग्लैंड में इनके सफल प्रयोगों द्वारा प्रदर्शन किया जाने लगा। इस प्रकार इन सभी पश्चिमी वैज्ञानिकों के अनथक निरंतर प्रयास और प्रयोग से सिनेमा के उदय की एक नई जमीन की शुरूआत हुई। सिनेमा क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रांति करने के बाद एडीसन ने फिल्म को परदे पर प्रदर्शित करने में अपनी कोई रूचि नहीं दिखाई। इस कार्य को सन् 1895 में आगे बढ़ाया फ्रांस के ल्युमिएरे बंधु अर्थात् आगॅस्ट मेरी लुइस निकोलस (1862–1954) और लुइस जीन लुमिएर (1864–1948) ने। इन्होंने एक नये प्रकार के कैमरे को विकसित किया जिसमें प्रिंटर और प्रोजेक्टर संयोजित रूप से जुड़ते थे। और जो 16 फ्रेम प्रति सैकेंड संचालित करने में सक्षम थे। सन् 1895 में अपने इस सिनेमेटोग्राफ को उन्होंने पेटेंट भी कराया। और 28 दिसम्बर सन् 1895 ई. में ही इन दोनों ल्युमिएरे बन्धुओं ने पेरिस के ''ग्रैंड कैफे'' में विश्व की सबसे पहली चलचित्र फिल्म का सार्वजनिक सफल प्रदर्शन किया। सिनेमेटोग्राफी के इस सफल आविष्कार और प्रदर्शन से इन्होंने सारे विश्व में तहलका मचा दिया।'[6]

युगीन जीवन यथार्थ के साथ सिनेमा की शुरूआत

ल्युमिएरे बन्धुओं ने 1895 में प्रदर्शित अपनी शुरूआती फिल्में छोटे स्थिर दृश्यों की बनाई। जिसकी कथावस्तु रोजमर्रा की यथार्थ जिंदगी पर आधारित थी। जैसे– स्टेशन पर ट्रेन का आगमन, फैक्टरी से निकलते मजदूर, सी–बाथ आदि। उन्होंने पहली फिल्म 'ला सॉर्टी डेस उर्सीस लुमिएर' बनाई जिसमें मजदूरों को दिखाया गया। सन् 1895 में ही प्रदर्शित 'ला एरोसियर एरोज' विश्व की पहली काल्पनिक फिल्म थी। इन फिल्मों की रील 50 फीट लम्बी थी। सन् 1904 में उन्होंने रंगीन ट्रांसपेरेंसी बना सकने वाली प्लेटों की मार्केटिंग शुरू की। इस प्रकार सन् 1895 में अमेरिका में एडीसन, फ्रांस में ल्युमिएर बंधुओं, इंग्लैंड में पाल ने किनेटोस्कोप तथा सिनेमेटोग्राफ आदि उपकरण द्वारा गतिशील चित्रों का सफल प्रदर्शन कर फिल्म निर्माण की राह और दिशा को नया मोड़, नयी उचाई और नयी गति दी।

कहा जा सकता है कि सिनेमा अपने जन्म के समय से ही वास्तविक दुनिया के जीते–जागते यथार्थ से जुड़ा था। जिसे देखकर दुनिया के लोग उसकी ओर सहज ही आकर्षित होने लगी। लेकिन धीरे धीरे लोग यथार्थ प्रदर्शन से ऊबने लगे। तब

इन बंधुओं ने 'ए ट्रिप टू दि मून' फिल्म बनाकर, फिल्म में कल्पना का प्रवेश कर उसमें रोचकता और रोमांच भर दिया। इसमें एक आदमी को चंद्रमा पर उतरते हुए दिखाया था। चंद्रमा में मनुष्य के उतरने के स्वप्न को इस फिल्म के माध्यम से यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया। कल्पना और यथार्थ के इस नये मेल ने फिल्म निर्माण की सर्जनात्मकता और कलात्मकता में नई संभावनाओं को जन्म दिया। जिसके द्वारा काल्पनिक दुनिया को यथार्थ की तरह प्रस्तुत किया जा सकता था। इस प्रकार सिनेमा का कल्पना और यथार्थ से गहरा संबंध बन गया। जिसने फिल्म को विश्व व्यापक बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सन् 1902 में 'दि लाइफ ऑफ एन अमेरिकन' और सन् 1903 में 'दि ग्रेट ट्रेन रोबरी' जैसी महत्वपूर्ण और लोकप्रिय फिल्में अमरिका में बनी। इन फिल्मों से विश्व जगत में सिनेमा की न केवल आधार भूमि तैयार हुई अपितु सिनेमा अपने युगजीवन के यथार्थ का अनिवार्य हिस्सा भी बन गया।

साम्राज्यवाद, व्यावसायिकता और सिनेमा का अंर्तसंबंध

पूंजीवादी प्रभाव से सन् 1904 से फिल्म में व्यावसायिकता का आरम्भ होने लगा। व्यावसायिकता ने शीघ्र ही सिनेमा को विश्वव्यापी बना दिया। और फ्रांस, इताल्वी, अमेरीकी सिनेमा विश्व–बाजार में हावी होने लगे। शीघ्र ही सिनेमा जगत पर पूंजीवाद का नियंत्रण और वर्चस्व हो गया। और अमेरीका का हॉलीवुड शहर सिनेमा निर्माण में विश्व का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रमुख शक्ति का केन्द्र बन गया। हॉलीवुड उस विराट कॉर्पोरेट चेन से जुड़ा हुआ है जो इलेक्ट्रोनिक्स, हवाई जहाज, शस्त्रास्त्र आदि भारी उद्योग चलाते हैं। पूंजी और तकनीक की ताकत पर हॉलीवुड ही फिल्मों की निर्णायक शक्ति बना हुआ है। विश्व के सिनेमा बाजार में हॉलीवुड की हिस्सेदारी बढ़ती गई है। कई देशों का फिल्म उद्योग मुख्यतः हॉलीवुड की शाखा बन गया है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का स्वरूप इस तरह बदला कि राष्ट्रीय फिल्म उद्योग अमरीकी वर्चस्व वाले अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक श्रम की एक शाखा बन गए हैं। इस तरह हॉलीवुड फिल्म अमरीकी साम्राज्यवाद का एक माल है और उसकी मुख्य विधा है 'ऐक्शन फिल्म'। जिसमें संत्रास, फंतासी, साइंस, फिक्शन, जासूसी, युद्ध आदि जोड़कर उसे एक 'मेटकॅटेगरी' भी बनाया जा सकता है। इसमें अलग अलग लोकेशनों का भी इस्तेमाल हो सकता है। इन फिल्मों में अमरीकी व्यक्तिवाद 'हीरो', 'बुराई पर अच्छाई की जीत', अमरीका के शत्रुओं की पराजय यानी कुल मिलाकर 'सेलेबेशन ऑफ अमेरीका' के माध्यम से अमरीकी पूंजी, सांगठनिक क्षमता और टेक्नॉलाजी की शक्ति को इस तरह स्थापित किया जाता है कि 'लोगों की पसन्द यही है'। हॉलीवुड अमरीका के सांस्कृतिक और विचारधारात्मक प्रभुत्व का एक प्रतीक प्रस्तुत करता है। ऊपर से विजेता लगने वाले नया भूमंडलीकृत हॉलीवुड में वित्तीय, सौन्दर्यबोधात्मक और विचारधारात्मक छिद्र हैं। अमरीकी साम्राज्यवादी सिनेमा की विराट सांस्कृतिक एकरूपता विश्व में सांस्कृतिक विविधता और स्वायत्ता के लिए खतरा बन रही है। इस तरह से ''फिल्मों को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो ऐसी वस्तु के रूप में जो बाजार के नियम–कायदों के अनुसार बेची–खरीदी और भोगी जाती है। जिसे उत्पादित करने और उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए उन्हीं सब प्रक्रियाओं में से गुजरना होता है जिनसे कोई अन्य उत्पाद गुजरता है। दूसरे, यह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा निर्धारित वैचारिक आधारिक संरचना का हिस्सा होती हैं।''[7] अतः 'सिनेमा यथार्थ को अभिव्यक्त ही नहीं करता बल्कि अपने समय की वर्चस्ववादी विचारधारा के संदर्भ में परिभाषित और व्याख्यायित करता है।'[8]

विश्व सिनेमा जगत में अभी मूक सिनेमा का ही दौर चल रहा था कि प्रथम विश्वयुद्ध की सुगबुगाहट होने लगी। विश्व में अनेक देशों के बीच संघर्ष और टकराहटों की गूंज शुरू हो गयी जिसका सीधा और गहरा प्रभाव विश्व सिनेमा पर भी दिखाई देने लगा। वर्ष 1914–1915 में प्रसिद्ध अमेरीकी डायरेक्टर डी. डब्ल्यू. ग्रिफिथ द्वारा निर्मित 'बर्थ ऑफ ए नेशन' फिल्म बनी जिसने विश्व सिनेमा जगत के इतिहास में नींव के पत्थर का काम किया। यह एक (रंगभेद विरोधी) उग्र नस्लवादी फिल्म है। यह अफ्रिका के काले लोगों के मानवाधिकारों और स्वतंत्रता से जुड़ी एक मानवीय फिल्म है। ''लेकिन एक फिल्मकार के रूप में ग्रिफिथ की सफलता यह बताने के लिए पर्याप्त है कि फिल्म जैसा माध्यम सामूहिकता को जनविरोधी और लोकतंत्र विरोधी रूप में आसानी से पेश कर सकता है।''[9] और ''हालीवुड की फिल्मों के बारे में बात करते हुए इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए कि अमरीकी साम्राज्यवाद के हितों के विश्वव्यापी प्रचार में हालीवुड सबसे ताकतवर हथियारों में से एक है और हालीवुड विश्व सिनेमा बाजार में उसी तरह वर्चस्व कायम किए हुए है जिस तरह राजनीति और अर्थनीति में अमेरिका।''[10] इसी तरह जर्मनी में सन् 1919–1924 के दौरान चित्रकला के क्षेत्र के अभिव्यंजनावाद आन्दोलन अर्थात आवांगर्द आन्दोलन के प्रभाव से 'द कैबिनेट ऑफ डाक्टर कैलीगरी' नामक लोकप्रिय फिल्म बनी जिसने विश्व में धूम मचा दी। फ्रांसीसी सिनेमा जगत में 1918–1930 के सूरियलिज्म आन्दोलन के प्रभाव में प्रसिद्ध फिल्मकार 'डी मिले' ने 'द चीट' नामक लोकप्रिय फिल्म का निर्माण किया। पूंजीवादी लोकतंत्र के बेहतर विकल्प के रूप में समाजवादी व्यवस्थाओं का उदय और इन दो तरह की व्यवस्थाओं के बीच के संघर्ष को सिनेमा में भी देखा जा सकता है। बोल्शेविक क्रांति के एक दशक के भीतर ही सोवियत सिनेमा का शक्तिशाली रूप में उदय हुआ। 1925 में रूस के गृह युद्ध (क्रांति) के प्रभाव को केन्द्र में रखकर सर्जेई आइसेंस्टीन ने 'बैटलशीप पोटेम्किन' जैसी उच्च स्तरीय कालजयी फिल्म बनायी। आइसेंस्टीन ने जिस मोंटाज तकनीक का अपनी फिल्मों में इस्तेमाल किया था उसकी प्रेरणा उन्हें वर्गसंघर्ष से मिली थी। उनके अनुसार मोंटाज के द्वारा ही जनसंघर्षों को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। स्ट्राइक (1924) और अक्टूबर (1927) आइसेंस्टीन की अन्य लोकप्रिय कलात्मक फिल्में हैं। इसी दौर में महान फिल्मकार चार्ली चेपलीन पूंजीवादी समाज में आम आदमी की विडंबना को मार्मिक रूप में 'मॉडर्न टाइम्स', 'गोल्ड रश' और 'दि ग्रेट डिक्टेटर' में प्रस्तुत कर रहे थे। पूंजीवादी समाज की जिन्दगी और मानसिकता पर प्रसिद्ध जर्मन फिल्मकार फ्रिज लांग ने 1927 में 'मेट्रोपोलिस' फिल्म बनाई। जो आज भी प्रांसगिक है।

सन 1926 में मूक सिनेमा को ध्वनि से जोड़ा गया। जिससे सिनेमा को दृश्य–श्रव्य माध्यम की सार्थकता प्राप्त हुई। अब उसकी लोकप्रियता विश्व भर में और अधिक बढ़ गई थी। इसी वर्ष 'डॉन जुआन' फिल्म में चित्र और संगीत का अदभुत समिश्रण देखने में आया जिसने जनता को विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित किया। सन 1927 में 'जार्ज सिंगर' नामक प्रसिद्ध फिल्म बनी जिसने मानव मन की गहराई को स्पर्श किया। अब सिनेमा अपनी सभी विशेषताओं से सम्पन्न होकर आगे बढ़ते हुए नयी ऊँचाईयों को छू रहा था। और इसकी कीर्ति विश्व भर फैल रही थी।

औपनिवेशिक भारत में सिनेमा का आगमन और आरंभ

बीसवीं सदी को सिनेमा की सदी कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक (1895) में सिनेमा तकनीक का तीव्र विकास हुआ लेकिन सिनेमा को पूर्ण कला माध्यम बनने का अवसर 1914–1915 के समय प्राप्त होता है। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही ऐसी फिल्में बनकर सामने आई जिनमें एक सम्पूर्ण कथा दृश्य–रूपों में प्रस्तुत की गई थी। जिन्हें हम वास्तविक अर्थ में फीचर फिल्म कह सकते हैं। सन 1914–1915 विश्व संदर्भ में वोल्शेविक क्रांति या रूसी क्रांति का समय था। प्रथम विश्व युद्ध ने सिनेमा के विकास में विश्व स्तर पर गतिरोध पैदा किया।

फ्रांस के ल्युमिएरे बन्धुओं को विश्व मे ''सिनेमा का जनक'' माना जाता है। भारत में सिनेमा की शुरूआत का श्रेय भी इन्हीं बन्धुओं को ही जाता है। '7 जुलाई, 1896 को ल्युमिएरे बन्धुओं ने मुम्बई के वाटसन होटल में 6 लघु फिल्मों का प्रदर्शन किया। जिनमें प्रमुख हैं – The entry of cinematography, Arrival of the train, Ladies And Soldiers, On wheels आदि।'[11] 'कोकोनट फेयर' नामक फिल्म का सफल प्रदर्शन भारत में 1897 में हुआ। जे. एफ. मदन ने 1907 में कलकता में पहला सिनेमा हॉल 'एल्फीन्स्टोन पिक्चर पैलेस' के नाम से बनवाया था।

भारत में पहली भारतीय देशी फिल्म के निर्माता हैं हरिश्चंद्र सावे भाटवाडेकर। जिन्होंने सन 1899 में 'दि रेस्टर्स' और 'मैन एंड की' फिल्में बनाई। और 1912 में आर. सी. टार्नी ने एन. जी. चित्र के साथ मिलकर 'पुंडलिक' नामक फिल्म बनाई। ये फिल्में निर्माण की दृष्टि से ब्रिटिश से प्रभावित थी। इसलिए ये फिल्में भारतीय लोगों को अपने से ज्यादा न लुभा सकी और न ही जोड़ सकी। क्योंकि हिन्दुस्तानी समाज और संस्कृति से इन फिल्मों का कोई वास्ता या सरोकार नहीं था। तब लोगों के दिमाग में ये बात आई कि हमारे समाज और संस्कृति के हिसाब से ही लोगों को फिल्में बनानी चाहिए। क्योंकि विकसित देश और भारतीय समाज के दर्शकों का मीडिया के साथ जो संबंध है उसमें सोच का बड़ा अंतर है, रामशरण जोशी के अनुसार, ''भारतीय दर्शक और पाठक मूलतः आवेगी, अतिसंवेदनशील और भावुक किस्म के होते हैं। इसके विपरीत, विकसित व समृद्ध समाजों के दर्शक व पाठक औपचारिक व तर्क प्रधान होते हैं। वे चीजों को भावुकता के आधार पर स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति में विवेक व तर्क के तत्व अनुपात में अधिक मौजूद रहते हैं। पश्चिमी–अमरीकी समाजों के लोकप्रिय सीरियल मनोरंजन प्रधान होते हुए भी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की बारीक समीक्षा लिए हुए होते हैं।....इसके विपरीत भारतीय चैनलों द्वारा प्रसारित सीरियलों में 'ऊल–जूलूल' या भोंडा मनोरंजन प्रमुख होता है। इनमें सामाजिक सरोकार नहीं होते हैं। इनमें आरंभ से अंत तक सिर्फ अतार्किकता और भावुकता बहती रहती है।''[12]

औपनिवेशिक भारत में मूक फिल्मों का दौर

सच्चे अर्थों में, भारत में पूर्णतः सफल और सार्थक फिल्म के प्रथम निर्माता और जनक थे– श्री ढुँढ़ीराज गोविंद फालके। इन्होंने ही भारत में भारतीय सिनेमा की नींव रखी। इन्हें ही भारत में दादा साहब फालके के नाम से पहचाना और जाना जाता है। इन्हें ही ''भारतीय सिनेमा के पितामह'' होने का गौरव प्राप्त है और सिनेमा जगत में सबसे बड़ा 'फिल्म निर्माता' का पुरस्कार भी इन्हीं के नाम से दिया जाता है। इनके द्वारा बनी पहली फिल्म थी– 'राजा हरिश्चंद्र'। यह पहली भारतीय मूक फिल्म थी। जिसका पहला प्रदर्शन 3 मई, 1913 को बम्बई के कॉरोनेशन सिनेमा में हुआ जो 23 दिनों तक लगातार चली। इसकी रील 3700 फीट थी। आज भी इस फिल्म के फिल्म–निर्माण पर भी एक पूरी रील उपलब्ध है जिसमें दादा फालके को निर्देशन देते हुए दिखाया गया है। इस फिल्म को बनाने के लिए दादा साहब फाल्के को अपनी पत्नी के गहने तक बेचने पड़े थे। 'भस्मासुर मोहिनी', 'सत्यवान–सावित्री', 'लंकादहन' आदि दादा साहब फालके की अन्य प्रसिद्ध फिल्में हैं।

हिन्दुस्तान के शुरूआती सिनेमा पर पारसी थियेटर का जबरदस्त प्रभाव था। जो नाटक पारसी थियेटर में लोकप्रिय थे उन पर ही फिल्म बनाने की कोशिश की गई। हिंदी सिनेमा ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाया। और ज्यादातर फिल्में थियेटर की तरह ही मिथकीय–पौराणिक चरित्रों पर ही बनाई गईं। दादा साहब फालके ने क्राइस्ट के जीवन पर आधारित फिल्म देखकर ही अपने मिथकीय चरित्रों को पर्दे पर उतारने का सपना देखा था। 'राजा हरिश्चंद्र' के बाद उन्होंने 'लंकादहन', 'श्रीकृष्ण जन्म', 'कालिया मर्दन', 'भक्त प्रहलाद', आदि फिल्में बनाईं। अपने प्रारम्भिक विकास में 'महाभारत' और 'रामायण' की कथाएं भारतीय फिल्मों के निर्माण की मुख्य प्रेरणा स्त्रोत रहे। मिथकीय (धार्मिक व पौराणिक) फिल्मों में तकनीकी विकास से 'चमत्कारों' का प्रयोग होने लगा जिससे धार्मिकता और अंधविश्वासों का भारतीय समाज में तीव्र रूप से विकास होने लगा। 1916 में आर. नटराजन ने दक्षिण भारत में 'कीचकवध' नामक फिल्म बनायी। भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण का गहरा और व्यापक प्रभाव भारतीय सिनेमा में उसके जन्म से ही रहा है। भारत की प्राचीन और विशाल वैभवशाली सांस्कृतिक परम्परा का भारतीय सिनेमा से जुड़ाव होना, तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिवेश के व्यापक सांस्कृतिक टकराहटों और संघर्षों की प्रतिक्रिया का ही परिणाम थी।

वर्ष 1913 से 1931 के बीच लगभग 1300 मूक फिल्मों का निर्माण हुआ। भारत में रिकार्ड 209 फिल्में केवल 1931 में बनीं। इनमें अधिकांश पौराणिक, धार्मिक और फंतासी कथानकों पर आधारित थीं। अनेक फिल्में सीधे–सीधे पारसी थियेटर के लोकप्रिय नाटकों का फिल्मांकन कर बनाई गईं। मदान थियेटर्स, कोहिनूर, सागर मूवीटोन, महाराष्ट्र फिल्म्स, इम्पीरियल, ग्रेट ईस्टर्न, कृष्णा फिल्म्स, प्रभात और रंजीत मूवीटोन मूक युग की प्रमुख फिल्म कंपनियां थीं। बाबूराव पेंटर, कांती भाई राठौर, मणिलाल जोशी, भालजी पेंढाकर, नानू भाई देसाई, फ्रेंज ऑस्टन, मोहन भवनानी, आर. एस. चौधरी, चंदूलाल शाह और वी. शांताराम मूक युग के प्रमुख निर्देशक हैं। इस युग की एकमात्र महिला निर्देशक हैं फातमा बेगम। राजा सेंडो, मास्टर विटठल, बाबूराव पेंढारकर, विष्णुपंत परमजीत, डी. बिल्मोरिया, प्रमुख नायक और जुबेदा, गौहर, फातमा बेगम, रूबी मायर्स, पेशेन्स कपूर, सीतादेवी, जहांआरा कज्जन इस युग की प्रमुख कलाकार नायिकाएं थी। भारत में यह दौर स्वाधीनता आन्दोलन का दौर था। विदेशी संस्कृति के सामने भारतीय संस्कृति की पहचान, भारतीय गौरव और मूल्यों के प्रचार प्रसार को सामने रखना बड़े ही साहस का काम था। पुनर्जागरण के इस दौर में पुरब और पश्चिम के विरोधाभास को उजागर करने वाली फिल्में बन रही थी। अपने जन्म के समय से ही भारतीय फिल्में एक बड़े उद्देश्य को लेकर चल रही थी। सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक चेतना के साथ साथ राजनीतिक दृष्टियों और विचारों से लैस फिल्में मानव मुक्ति के स्वर को जोरदार तरीके से उठा रही थीं। सामाजिक कुरीतियों और विसंगतियों के विरुद्ध जहां समाज और राजनीति में आवाज उठ रही थी वहीं सिनेमा क्षेत्र में इन विषय को लेकर 1921 में धीरेन गांगुली ने 'इंग्लैंड रिटर्न' बनायी।

सन् 1913 से भारत के समान ही विश्व के अनेक देशों में भी सिनेमा के आरम्भ का सुत्रपात होता है। आज इन्टरनेट जगत में भारत विकसित देशों जैसे अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस आदि के बराबर है। फिल्मों के मामले में भी भारत ऐसा ही रहा था। ऐसा क्यों, जबकि तमाम अन्य मामलों हम हमेशा पिछड़े रहने के आदी हैं ? सोचने की बात है कि चीन, ईरान, कोरिया, ब्राजील, अरब राष्ट्र, जैसे देशों में सिनेमा का जन्म 1950 के आसपास जाकर संभव हुआ। भारत, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि में क्या जल्दी थी ? भाषा, जनसंख्या, टेकनॉलोजी आदि से यह गुत्थी हल नहीं होगी। बात कुछ और ही है। बात यह है कि सिनेमा पूंजीवादी समाज व्यवस्था की उपज है। जहां–जहां, जब जब पूंजीवाद फैला, वहां वहां, तब तब सिनेमा की जमीन तैयार हुई। अमरीका चरम पूंजीवादी है और हॉलीवुड सिनेमा का चरम है, और रहा है। औपनिवेशिक हालत में ही सही, मगर भारत में भी पूंजीवाद का सफर यूरोप और अमरीका के बराबर रहा है। चीन, ईरान, अरब आदि देशों में अब जाकर पूंजीवादी निजाम बन रहा है। और इन समाजों में फिल्म उद्योग भी अब ही पनपने लगा है। ब्रिटेन का उपनिवेश अनेक देशों में रहा, मगर भारत में ही पूंजीवादी व्यवस्था पूरे तौर पर जमायी गई। और तो और, ब्रिटेन

के पूंजीवाद और भारत के पूंजीवाद का रिश्ता मूंछ और पूंछ का रहा है। और आज अमरीका ब्रिटेन की जगह ले चुका है।

सन 1920 से भारतीय सिनेमा का निर्माण–केन्द्र मुम्बई बन गया। भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में गांधी के आगमन से स्वाधीनता आन्दोलन में नई शक्ति और तीव्रता आ गई थी। स्वाधीनता संग्राम के आदर्शों का हर क्षेत्र में प्रसार होने लगा। इस दौर में सिनेमा में मिथकीय कथाओं के स्थान पर यथार्थपरक 'ऐतिहासिक कथाएं' प्रवेश करने लगी। मराठा इतिहास को आधार बनाकर बाबूराव मिस्त्री ने 'सैरंधी', 'सुभद्राहरण' 'सिंहगढ़' आदि फिल्में बनाई और भारतीय जनमानस में आत्मगौरव और आत्मसम्मान का भाव जगाया। जो भारतीय जनमानस ब्रिट्रिश गुलामी में अन्याय, अत्याचार और शोषण का जहर पी रहा था वहां ये फिल्में भारतीय जनता में स्वाधीनता का ओजस्वी प्रेरणा स्वर भर रहा था। धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक विषयों की प्रधानता होते हुए भी बाबूराव पेंटर ने 1925 में मूक फिल्म 'सावकारी पाश' नामक सामाजिक यथार्थवादी फिल्म बनायी जो कृषकों के अमानवीय साहूकारी शोषण का यथार्थवादी चित्रण करती थी। इसमें किसान से मजदूर बनने की त्रासदी है। इसके नायक वी. शांताराम थे। यह पहली हिंदी यथार्थवादी फिल्म थी। इसे हम 'दो बीघा जमीन' (1953) और 'मदर इंडिया' की आधार फिल्म कह सकते हैं। मूक सिनेमा के दौर में ही विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखक भी इस नये कलारूप की ओर आकर्षित हुए। रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र, नारायण हरि आप्टे, नवल गांधी, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि बांग्ला, मराठी, गुजराती के प्रसिद्ध रचनाकारों ने इस नये माध्यम के प्रति अपना प्रेम भाव दिखाया। लेकिन हिन्दी भाषी लेखक जगत ने हिन्दी सिनेमा के प्रति अपना रूझान कम ही दिखा पाये हैं।

भारतीय सिनेमा में बोलती फिल्मों का दौर

बोलती फिल्म का आरम्भ सिनेमा जगत में एक नया क्रांतिकारी मोड़ था। 1926 में मूक सिनेमा में ध्वनि को जोड़ा गया था। यह सिनेमा के क्षेत्र में नई तकनीकी क्रांति थी। जिसने सिनेमा को नया स्वरूप और प्राण प्रदान कर दिये थे। 1931 से सिनेमा में बोलती फिल्मों का दौर आरम्भ होता है। भारतीय सिनेमा की पहली बोलती फिल्म है – 'आलमआरा'। इसका प्रदर्शन 14 मार्च, 1931 को मुम्बई के मेजेस्टिक सिनेमाघर में हुआ। इस फिल्म के कुशल निर्देशक थे – आर्देशिर ईरानी। इसका निर्माण 'इंपीरियल फिल्म कम्पनी' ने किया था। इस फिल्म से ही मूक फिल्मों का निर्माण बन्द हो गया था। पहली बोलती फिल्म बनाने के लिए 'इम्पीरियल कम्पनी' और 'मदान थियेटर्स' में कड़ी प्रतिस्पर्धा थी। जिसमें इम्पीरियल कम्पनी ने बाजी मार ली। और 'आलमआरा' को पहली बोलती फिल्म होने का गौरव प्राप्त हुआ। चंद दिनों बाद ही मदान थियेटर्स की 'शीरीं फरहाद' फिल्म प्रदर्शित हुई जो 'आलमआरा' से कहीं अधिक लोकप्रिय हुई। जहांआरा कज्जन और मास्टर निसार की जोड़ी भी 'आलमआरा' की जुबैदा और मास्टर विटठल की जोड़ी से अधिक लोकप्रिय हुई। यह फिल्म दस हजार फीट लम्बी थी। इसकी कुल लागत थी चालीस हजार रुपये। जो कि अपने समय के अनुसार गरीब भारत में बहुत बड़ी रकम थी।

शुरूआती बोलती फिल्मों की भाषा पर पारसी रंगमंच की भाषा (हिन्दी–उर्दू मिश्रित हिंदुस्तानी) का गहरा प्रभाव था। यह प्रभाव शुरू के पहले दशक तक ही रहा। लेकिन बोलते सिनेमा की बढ़ती लोकप्रियता ने धीरे–धीरे पारसी रंगमंच की उपयोगिता को समाप्त कर दिया। पारसी रंगमंच से जुड़े प्रसिद्ध नाटककार (नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र कश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, विनायक प्रसाद तालिब, अहसान लखनवी आदि) उस दौर की कई फिल्मों के पटकथा लेखक और संवाद लेखक बन गए। सिनेमा की भाषा का नया रूप देने में इन नाटककारों का बहुत बड़ा योगदान है। सिनेमा की भाषा के वैशिष्ट्य पर सिनेमा विद्वान जवरीमल्ल पारख का कहना है कि, ''हिंदी सिनेमा को चाहें तो हिंदुस्तानी सिनेमा भी कह सकते हैं, क्योंकि अब भी हिंदी फिल्मों की भाषा का आदर्श वह हिंदुस्तानी है, जो हिंदी की संस्कृतनिष्ठता और उर्दु के फारसीपन से अपने को मुक्त रखकर आम आदमी के दिल से सीधे जुड़ने की ताकत रखती है। हिंदुस्तानी जबान की इस ताकत को अपनाकर हिंदी सिनेमा ने दर्शकों के दायरे को ही नहीं बढ़ाया बल्कि उन गैर हिंदी भाषी फिल्मकारों के लिए भी रास्ता आसान कर दिया जिन्होंने व्यापक जनता तक अपनी पहुंच बनाने के लिए हिंदी फिल्में बनाना जरूरी समझा। वी. शांताराम मराठी, विमल राय बंगला, महबूब गुजराती, बी.आर.चोपड़ा पंजाबी, दसारि नारायण राव तेलुगु, आदि कई फिल्मकारों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने हिंदी फिल्में बनाकर अपनी भाषा से बाहर के दर्शकों तक पहुंचने की कामयाब कोशिश की। हिंदी सिनेमा के साथ गैर हिंदी भाषी कलाकारों के जुड़ाव को फिल्म निर्माण और निर्देशन के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि अभिनय, संगीत, पटकथा, छायांकन, संपादन यानी कि सिनेमा के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है।''[13]

सन् 1931 के आसपास से ही फिल्मों में 'स्टुडियो व्यवस्था' का भी आरम्भ हो गया था। अभी तक फिल्म बनाना केवल निजी प्रयास ही था लेकिन अब फिल्म में स्टुडियो व्यवस्था की शुरुआत हो गई थी। कलकता में बी. एन. सावरकर का 'न्यू थियेटर्स', मुम्बई में हिमांशु राय की 'बांबे टॉकिज', चंदूलाल शाह की 'रणजीत मूवीटोन' कोल्हापुर में शांताराम, दामले–फत्तेलाल का 'प्रभात टॉकिज', लाहौर में 'पंचौली स्टूडियोज' आदि ये वे संस्थाएं थीं जिनका तीसरे और चौथे दशक में वर्चस्व था। 'प्रभात' टॉकिज की नींव के पत्थर थे – व्ही शांताराम। इन्होंने 1932 में अपनी पहली बोलती फिल्म 'अयोध्या का राजा' बनाई। यह वह समय था जब नवजागरणकालीन चेतना धर्म, कला, साहित्य, संस्कृति सभी रचनात्मक क्षेत्रों में प्रेरणा का काम कर रही थी। दूसरी ओर स्वतंत्रता संघर्ष अपने चरम पर था। गुलामी से छुटकारा पाने के लिए देश पर बलिदान होने का प्रबल भाव और कुरीतियों, पाखंडों तथा अंधविश्वासों का विरोध करने का सुधारवादी वातावरण बन चुका था। यह संवेदनाएं कला, साहित्य और फिल्मों में प्रतीकों और मिथकों के माध्यम से प्रकट हो रही थी। सकारात्मक सामाजिक बदलावों के लिए वी. शांताराम ने 'अमृतमंचन'(1934), 'दुनिया न माने'(1937), 'आदमी'(1939), 'पड़ोसी'(1941), 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी'(1946), 'दहेज'(1950), 'दो आंखें बारह हाथ'(1957) 'नवरंग'(1959), जैसी लोकप्रिय और कालजयी फिल्में बनाईं। 'बाम्बे टॉकिज' की सामाजिक बुराई पर 'अछूत कन्या' (1935), 'कंगन'। रणजीत मूवीटोन की 'गुण सुंदरी'। न्यू थियेटर्स की 'देवदास', 'मुक्ति'। न्यू थियेटर्स ने सर्वाधिक विविधतापूर्ण फिल्में बनाई। इसके अतिरिक्त होमी वाडिया ने फियरलैस नाडिया की हंटरवाली सिरीज की मजेदार स्टंट फिल्में बनाकर अपना एक नया दर्शक वर्ग बना लिया। महबूब की 'मनमोहन', 'औरत', मास्टर विनायक की 'ब्रह्मचारी' 'ब्रांडी की बोतल' आदि 1931 से 1940 के बीच बनी कुछ महत्त्वपूर्ण फिल्में थीं। पृथ्वीराज कपूर, मोतीलाल, अशोक कुमार, देविका रानी, दुर्गा खोटे, लीला चिटनिस, ललिता पवार, शांता आप्टे, नलिनी तरखुड आदि लोकप्रिय कलाकार थे। इस स्टुडियो व्यवस्था के अंतर्गत मासिक वेतन में अनेक नये व कुशल कलाकार और तकनीशियन काम करते थे। सिनेमा जगत ने रोजगार के नये अवसर उपलब्ध कराये। आर्थिक ढांचे में नयी गतिशीलता और संवृद्धि पैदा की। इस दौर में देश के कोने कोने से चित्रकार, कलाकार, लेखक, नर्तक, छायाकार, गायक, संगीतकार तेजी से सिनेमा की ओर आकर्षित होने लगे। सृजन से जुड़े लोगों के लिए यह एक बेहतरीन प्लेटफार्म बन गया।

भारतीय सिनेमा में गीत–संगीत की शुरूआत

गीत–संगीत सिनेमा का महत्त्वपूर्ण अंग है। गीत–संगीतों का फिल्मों में प्रवेश बोलती फिल्मों की शुरुआत से ही हो गया था। गीत–संगीत का फिल्म में महत्त्व अपने आरम्भ से लेकर आजतक बना हुआ है। सिनेमा में गीतों की परम्परा भी पारसी रंगमंच से ही आई है। और पारसी रंगमंच में भारतीय लोकनाट्य परंपरा से। भारतीय लोकनाट्य परंपरा में गीतों की मौजूदगी नाटक का अनिवार्य हिस्सा रही है। इसीलिए आरंभिक हिंदी फिल्मों के गीतों की भाषा भी पारसी रंगमंच के अनुरूप ही थी। भारतीय सिनेमा में गीत–संगीत को गौरवशाली और कालजयी बनाने में भारतीय शास्त्रीय संगीत, विभिन्न प्रदेशों का लोक संगीत और पश्चिम का शास्त्रीय और पॉपूलर संगीत ने अहम योगदान दिया है।

बोलती फिल्मों के दौर से ही गीत–संगीत सिनेमा के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये थे। पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' थी जिसमें कुल 12 गीत शामिल थे। हिंदी फिल्मों के गीत अहिंदी क्षेत्रों में खूब लोकप्रिय हुए। जिसने समूचे हिंदुस्तान की एकता को मजबूत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गीतों में लोक प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ जो लोकचेतना को लोकमय बनाती थी। इस दौर में नायक–नायिका स्वंय ही अपने गीत गाते थे इसलिए उनका गायक होना जरूरी था। सहगल अपनी गायकी के बल पर ही हिंदी सिनेमा के पहले सुपरस्टार बने थे। गायकी में माहिर कलाकारों का वर्चस्व इस दौर में बराबर बना रहा। इसी तरह महबूब ने सहगल के मुकाबले 'मनमोहन' में गायक–अभिनेता सुरेंद्र को प्रस्तुत कर अपार लोकप्रियता प्राप्त की थी। चौथे दौर तक सिनेमा में इन्हीं फिल्मकारों और कलाकारों का दबदबा बना रहा। गायन में सहगल के अलावा सुरेंद्र, के. सी. डे, बेगम अख्तर, उमाशशि, कानन देवी की प्रसिद्धि थी तो संगीतकारों में अनिल विश्वास, आर. सी. बोराल, पंकज मलिक, तिमिर बरन, रफीक गजनवी और सरस्वती देवी का वर्चस्व था। 1932 में 'इन्द्रसभा' फिल्म बनी जिसकी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें सबसे ज्यादा 70 गीत थे। इतने गाने आज तक किसी दूसरी फिल्म में नहीं आए। इसी समय साम्प्रदायिक सदभावना पर 'न्यू थियेटर' की 'यहूदी की लड़की' फिल्म प्रदर्शित हुई जिसमें रतनबाई और के. एल. सहगल थे। हिन्दी फिल्मों में कहानी के बीच गीत नहीं होते, बल्कि गीतों के बीच कहानी होती है।

यथार्थवाद की परंपरा और रंगीन सिनेमा की शुरूआत

सिनेमा के तकनीकी क्षेत्र में प्रतिभाशाली विद्वानों द्वारा अभी भी सक्रिय रूप से प्रयोग हो रहे थे। रंगीन फिल्म निर्माण की तकनीकी प्रयास हो रहे थे। 1932 में 'विल्वमंगल' फिल्म बनी जो अंशतः रंगीन थी। प्रभात स्टूडियों की 1933 में बनी 'सैरंधी' फिल्म भी अंशतः ही रंगीन थी। सिनेमा की इस तकनीकी क्षेत्र में पूर्ण सफलता मिली 1937 में। पहली पूर्ण रंगीन फिल्म थी – 'किसान कन्या'। जिसे 1937 में अर्देशिर ईरानी ने निर्मित और प्रदर्शित किया। 1938 में अर्देशिर ईरानी ने दूसरी रंगीन फिल्म बनाई – 'मदर इण्डिया'। बाद में इसी नाम से महबूब खान ने नरगिस को लेकर 'मदर इण्डिया' बनायी। दादा साहब फाल्के की अन्तिम फिल्म 'गंगावतरण' भी इसी वर्ष प्रदर्शित हुई। न्यू थियेटर्स द्वारा के. एल. सहगल और काननबाला की 'स्ट्रीट सिंगर' (1938) की लोकप्रिय फिल्म थी, जिसके 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय' प्रसिद्ध गीत ने फिल्म को अमर कर दिया। सोहराब मोदी की 'जेलर' भी इसी वर्ष प्रदर्शित हुई। सन् 1939 के द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ हो जाने से रंगीन फिल्मों के निर्माण में लम्बे समय तक रूकावट पैदा हो गयी।

कला की हर विधा पर अपने समय और समाज का गहरा प्रभाव पड़ता है। सार्थक कला भी वही है जो अपने समय और समाज से संबद्ध है। जवरीमल्ल पारख के शब्दों में, ''सिनेमा हमारे समय का सशक्त माध्यम है और इसे सिर्फ मनोरंजन का माध्यम मानना न पर्याप्त है और न ही उचित। निश्चय ही यह जनता के काफी बड़े हिस्से के लिए अभी भी मनोरंजन का सबसे बड़ा जरिया है लेकिन फिल्म देखते हुए वे अपना मन नहीं बहलाते, वे अपने साथ अपने समय और समाज के बारे में नए अनुभव और नई समझ भी लेकर जाते हैं। ये अनुभव और यह समझ जीवन और समाज संबंधी उनकी पहले की समझ को किसी न किसी रूप में प्रभावित जरूर करते हैं। या तो जाने अनजाने उनका नजरिया बदलता है या पहले से बनी समझ और मजबूत होती है।''[14] 20वीं सदी के चौथे दशक ने विश्व स्तर पर और भारतीय परिदृश्य पर अपनी महत्वपूर्ण और गहरी छाप छोड़ी है। द्वितीय विश्वयुद्ध की घटना, भारतीय राजनीति और स्वाधीनता आन्दोलन में गांधी की अदभुत सक्रियता और महत्त्व, देशभक्त भगत सिंह की फांसी, अंग्रेजी शासन के खिलाफ बढ़ता गहरा आक्रोश और विरोध, सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने की जागरूक चेतना, पश्चिम और पूरब की संस्कृति के विरोधाभास को उजागर करना और एक नये नवजागरण की क्रांतिकारी लहर का पूरे भारत में फैल जाना आदि अनेक विषयों और मुद्दों ने सिनेमा प्रभावित किया। राष्ट्रवाद, देशभक्ति, देशप्रेम के लिए बलिदान, पूरब–पश्चिम, परंपरा–आधुनिकता, समाज सुधार, हृदय परिवर्तन, मानवतावाद, स्त्री सशक्तिकरण, धार्मिक सहिष्णुता, भूख–गरीबी–अन्याय, असमानता, धार्मिक अंधविश्वास व कट्टरता तथा देश के नवनिर्माण को लेकर अनेक फिल्में बनाई गईं।

चौथे दशक से सिनेमा ने मनोरंजन के साथ–साथ अपनी सामाजिक जिम्मेदारी की भूमिका को भी बखूबी निभाया। सिनेमा सामाजिक सरोकारों से जुड़ा। मुस्लिम लीग के निर्माण, हिंदू महासभा के उदय का असर भी इस दौर के सिनेमा में प्रतिबिंबित हो रहा था। इसको लेकर अनेक फिल्में बनीं। जैसे सांप्रदायिक सदभाव को लेकर व्ही. शांताराम की 'पड़ोसी' और प्रभात कंपनी की 'रामशास्त्री' व 'आदमी' जैसी फिल्में। गांधी जी के हरिजन आन्दोलन के प्रभाव से चंदूलाल ने 1940 में 'अछूत' फिल्म बनाई। गांधी के अहिंसा को लेकर देवी बोस ने 'अपना घर' बनाई। तो महबूब ने 'रोटी' जैसी प्रगतिशील फिल्म बनाई। इसी तरह सामाजिक–सांस्कृतिक प्रश्नों पर 'विदेशी वस्त्रों की होली', 'वंदे मातरम', 'आश्रम', 'उदयकाल', 'अछूत कन्या'(1936), 'भरत मिलाप' आदि उच्चकोटि की फिल्में बनीं। इस समय तक सिनेमा में फिल्म कंपनियों का वर्चस्व फिल्म–कलाकारों से ज्यादा था। आजादी के पहले ही फिल्मीस्तान की 'किस्मत' में पहली बार अपराधी नायक की भी प्रतिष्ठा हुई जिसे अपार सफलता मिली। अंग्रेजी कुशासन के विरूद्ध बनी फिल्मों को अंग्रेजी सरकार के आक्रोश के कारण सेंसरशिप के कड़े प्रतिबंध और अत्याचार भी सिनेमा जगत को सहन करने पड़े। बांबे टॉकिज की 1943 में बनी 'किस्मत' फिल्म का देशभक्ति गीत 'दूर हटो ए दुनिया वालो, हिंदुस्तान हमारा है' बेहद लोकप्रिय हुआ। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ यह गीत अनिल विश्वास का था। 1934 में मुंशी प्रेमचंद की कहानी पर मोहन भवनानी निर्देशित 'मजदूर' फिल्म बनी। जिसके प्रदर्शन पर बंबई के मिल–मालिको व पूंजीपतियों ने प्रतिबंध लगा दिये थे।

कलात्मक यथार्थवादी सिनेमा का आरंभ

पांचवें दशक के हिंदी सिनेमा में एक नया मोड़ आया। भारतीय परिदृश्य में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन व परिवर्तन का यह चरम और प्रखर दौर था। इन व्यापक प्रभावों और परिवर्तनों का सिनेमा भी साक्षी रहा। इस दौर के सिनेमा ने सामाजिक यथार्थवादी चेतना के साथ–साथ आलोचनात्मक दृष्टिकोण के द्वारा जनमानस को ठोस और नये वैकल्पिक विषयों की ओर जागरूक और सक्रिय किया। के. ए. अब्बास, कैफी आजमी, साहिर लुधियानवी जैसे प्रोग्रेसिव राइटर्स फिल्मों में आने लगे। 'इप्टा' के के. ए. अब्बास ने 'धरती के लाल' बनाई। जो बैन हो गई। फिर 1945–46 में चेतन आनंद ने 'नीचा नगर' यथार्थवादी फिल्में बनाई। उसके पहले भी उन्होंने 'हमराही' जैसी

एंटी कालोनिज्म फिल्म बनाई। इन फिल्मों में थियटरिकल ट्रेडिशन, फोक ट्रेडिशन और क्लासिकल ट्रेडिशन का मिश्रण था। इसी समय दिलीप कुमार, राजकपूर, देव आनंद की नायक त्रिमूर्ति उभरी जिसने आगामी दो दशकों तक अपना वर्चस्व कायम रखा। और कालजयी फिल्मों की समूची श्रृंखला का निर्माण किया। सुरैया, नरगिस, मधुबाला, मीनाकुमारी, नूतन, कामिनी कौशल, वैजयन्ती माला, वहीदा रहमान जैसी अपूर्व सुंदरियों और अदाकाराओं ने सुनहरे पर्दे को जगमगा दिया। याकूब, कन्हैयालाल, प्राण, अजीत, ललिता पवार, रशीद खान, शुभा खोटे आदि अनेक नायाब चरित्र कलाकारों ने दस्तक दी। नौशाद, शंकर जयकिशन, मदनमोहन, रोशन, ओ. पी. नैयर, रवि, सी. रामचंद्र, सचिनदेव बर्मन, एस. एन. त्रिपाठी ने मजरूह, शैलेंद्र, साहिर, राजा मेंहदी अली खां, राजेंद्र कृष्ण, प्रदीप, शकील, हसरत, इंदीवर आदि के गीतों को लता, रफी, मुकेश, मन्ना डे, किशोर, आशा, महेंद्र कपूर आदि के स्वरों में ऐसी तन्मयता से प्रस्तुत किया कि वे आज तक हमारी अमूल्य निधि और अप्रतिम धरोहर बने हुए हैं।

निष्कर्षतः सिनेमा एक लोकप्रिय और शक्तिशाली जनसंचार माध्यम है जिसका सबसे अधिक उपयोग फिल्म बनाने के लिए किया जाता है। आज दुनिया की सभी प्रमुख और क्षेत्रीय भाषाओं में फिल्में बनती है। पूंजीवादी तंत्र और बाजार का उस पर पूरा वर्चस्व है। आज वह पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति और विचारधारा का प्रतिरूप है। वह सत्ता की संस्कृति का प्रचारक है। लेकिन इस सब के बावजूद वह सामाजिक यथार्थ और प्रतिरोध का माध्यम भी है। वह एक सामाजिक उत्पाद के साथ ही सांस्कृतिक उत्पाद भी है। सिनेमा के माध्यम से जो जीवन प्रस्तुत किया जाता है वह चाहे जितना काल्पनिक और अयथार्थ क्यों न हो लेकिन उसका अपने समय और समाज से एक रिश्ता जरूर होता है। इसी प्रकार सिनेमा न तो संस्कृतिहीन समाज को प्रस्तुत कर सकता है और न ही संस्कृतिहीन जीवन ही। वह जीवन और समाज को सदैव ही एक सांस्कृतिक ढांचे के अंतर्गत ही प्रस्तुत करता है। अतः 'सिनेमा आमतौर पर यथास्थिति का समर्थक रहा है। लेकिन इससे यह अनुमान लगाना उचित नहीं है कि उसमें अपने समय के धड़कनों की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसके विपरीत लोकप्रिय होने के लिए फिल्मकारों को निरंतर ऐसी कोशिशें करनी होती हैं ताकि ज्यादा लोग फिल्म देखने के लिए सक्रिय हो सकें। परिवर्तन के लिए प्राणशक्ति फिल्मकारों को समाज से ही प्राप्त होती है। वे समाज में होने वाले बदलावों के अनुरूप अपनी फिल्म की अंतर्वस्तु को भी बदलने का प्रयत्न करते हैं।''[15] सिनेमा अपने युगयथार्थ से गहरे से संबद्ध, प्रेरित और प्रभावित रहता है।

संदर्भ

1. भारतीय मीडिया : अंतरंग पहचान : स्मिता मिश्र व अमरनाथ अमर, पृ. 152, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, सं. 2008
2. प्रगतिशील वसुधा (पत्रिका) : संपादक कमला प्रसाद (सिनेमा विशेषांक संपादक प्रहलाद अग्रवाल), अंक–81, पृष्ठ संपादकीय से –12,
3. पहल पत्रिका : संपादक ज्ञानरंजन (वाल्टर बेंजामिन पर केन्द्रित–संपादक विजय कुमार) अंक 69, वर्ष 2001, पृष्ठ 133
4. भारतीय मीडिया : अंतरंग पहचान : स्मिता मिश्र व अमरनाथ अमर, पृ. 153, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, सं. 2008
5. वही,
6. वही, पृष्ठ 153–154
7. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र : जवरीमल्ल पारख, पृष्ठ 21, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन दिल्ली, प्र.सं. 2006
8. वही,
9. वही, पृष्ठ 29,
10. वही, पृष्ठ 29–30
11. भारतीय मीडिया : अंतरंग पहचान : स्मिता मिश्र व अमरनाथ अमर, पृ. 155, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, सं. 2008
12. मीडिया मिथ और समाज : रामशरण जोशी, पृष्ठ 68, प्रकाशक शिल्पायन दिल्ली, संस्करण 2007
13. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र : जवरीमल्ल पारख, पृष्ठ 12 (भूमिका से), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन दिल्ली, प्र.सं. 2006
14. वही, पृष्ठ 9 (दो शब्द से)
15. वही, अग्र फ्लैप कवर से